

संवाद संवाद

जनसत्ता 9 अगस्त, 2014 : केलकता के एक बयालीस वर्षीय महिला ने फेसबुक पर पंद्रह दिन के 'चैट' के बाद बीरभूम के रहने वाले

एक तैतीस वर्षीय युवक को अपने घर बुलाया। जब वह महिला के घर पहुंचा तो महिला ने पाया कि फेसबुक पर दी गई तस्वीर से यह युवक अलग है, नाटा है और मोटा है। यानी बदसूरत है। युवक उससे शारीरिक संबंध बनाने का दबाव डालने लगा। महिला के तराज करने पर युवक ने उसकी चाकू मार कर हत्या कर दी। फेसबुक पर जसि रफ्तार से दोस्ती, शादी और तलाक हो रहे हैं उसे देख कर भारतीय समाज में एक कलगातार फैलते विकर से अजीब खतरा पैदा हो गया है। लवि-इन रलेशन और कुछ दिन बाद अनबन से उपजी दुर्भावना से साथ रहने वाली महिला का पुरुष-मतिर पर बलात्कर का मुकद्दमा भी उसी पतन की तार्किक परिणति है।

पश्चिमी मूल्य-बोध से प्रभावित भारतीय सत्तापक्ष और अभजातवर्गीय सोच का एक और नमूना देखिए। अचानक बलात्कर की शक्तियत्ते इतनी बढ़ गई हैं कि ऐसा लगने लगा है कि पुलिस के लिए कानून-व्यवस्था से बढ़ा काम इन मामलों को नपिटाना हो गया है। दस साल बाद कोई युवती अचानक थाने में आकर बताती है कि अमुक व्यक्ति जसिके साथ वह दस साल से रह रही है, उससे उसकी मर्जी के खिलाफ बलात्कर कर रहा है और अब शादी भी नहीं कर रहा है।

प्रश्न यह है कि कब कोई रिश्ता स्त्री-पुरुष का अंतरंग संबंध बनता है जसि कोई कानून बाधित नहीं कर सकता और समाज का कोई नैतिकता का दबाव प्रभावित नहीं कर सकता और कब यही रिश्ता बलात्कर बन जाता है यह समझना कानून के लिए मुश्किल हो जाता है। समाज इस लिए वरिध नहीं कर सकता क्योंकि कतरक के हिसाब से नारी-स्वातंत्र्य किसी समाज का मोहताज नहीं है। लेकिन वही जब उस नारी के अपेक्षित स्थान या धन नहीं मिलता तो वह इसे बलात्कर बताने लगती है और पुलिस इस 'बलात्करी' के कानून के सामने लाने के मजबूर होती है।

प्रश्न यह है कि क्यों समाज या पुलिस झेले उस नारी के 'गलत फैसले' का दंश जसिके तहत वह दस साल तक 'लवि-इन' रलेशन में रहती है और ग्यारहवें साल उसे उस संबंध में बलात्कर नजर आने लगता है?

लोकसभा में जब तेलुगू देशम पार्टी के एक सदस्य ने कहा कि 'महिला' कम कम न पहनें और पहनावे में शालीनता बरतें भारतीय संस्कृति के मद्देनजर, तो मानो भूचाल आ गया। गोवा के एक मंत्री ने भी यही कहा तो पूरा बुद्धिजीवी वर्ग तन कर खड़ा हो गया। आखिर क्या वजह है कि इस पश्चिमी परिधान के ही भारत में लाकर नारी-स्वातंत्र्य को बहाल करने में बुद्धिजीवी वर्ग लगा हुआ है। क्या कन्या भ्रूण-हत्या पर रोक ली क्योंकि की शक्ति और परिवार में समानता का अधिकार अभी देश की प्राथमिकता नहीं है? भारतीय नारी के दुर्गा की शक्ति देने के लिए पश्चिमी परिधान ही क्यों जरूरी लगता है इन बुद्धिजीवियों को?

जैसे हमने अपनी अर्थ-व्यवस्था के वैश्विक अर्थ-व्यवस्था (मूल रूप से पश्चिम के संपन्न राष्ट्रों से संचालित) में समेकित (इंटीग्रेट) किया है जिसके तहत 2007-08 में पैदा हुए अमेरिकी वित्तीय बाजार का संकट भारत की कृषि पर असर डालता है, शायद उसी तरह जाने-अनजाने में अपने मूल्य-बोध के भी पश्चिमी मूल्य-बोध में समाहित कर रहे हैं। या पूरे के पूरे पश्चिमी मूल्य-बोध के अंगीकर कर रहे हैं। कोलकाता की महिला को किसी युवक से महज पंद्रह दिन के ट्वीट से दोस्ती करने से रोकना पश्चिमी मूल्य-बोध के अनुसार नारी स्वातंत्र्य को बाधित करने वाला है।

भारत में जो इसकी मुखालफत में आवाज उठाता है वह दकियानूसी, गैर-प्रगतशिल और नारी स्वतंत्रता न चाहने वाला कर दिया जाता है। हमारा कनून भी सहमति पर आधारित शारीरिक संबंधों की इजाजत देता है (अगर इसमें धन का आदान-प्रदान नहीं है) और यहां तक कि विवाहेतर संबंध भी तब तक मान्य है जब तक पत्नी इसकी शकियत नहीं करती।

यह सच है कि कोई भी समाज सभ्यता या संस्कृति की गति को रोक नहीं सकता, मात्र देर कर सकता है। पहनावे में बदलाव, संबंधों की गुणवत्ता में बदलाव, मूल्यों की जड़ से बाहर होने की तप समाज को गतशिल बनाती है। मार्क्सवादी सिद्धांत के माने तो आर्थिक संबंध भी कई बार सामाजिक संस्थाओं में बदलाव का कारण बनते हैं। संयुक्त परिवार की संस्था में टूटन भी इसी कारण है।

मूल्य-व्यवस्था भी बदलेगी ही। लेकिन जरूरी नहीं कि हम पश्चिमी मूल्य-व्यवस्था को ही अंगीकर करें। क्या हम कनया मूल्य-ढांचा, जो हमारी पूरव की व्यवस्था के आगे का पंख हो, नहीं ला सकते? समस्या इसलिए पैदा हो रही है कि संप्रेषण के न साधनों का इस्तेमाल कर हम पश्चिमी मूल्य व्यवस्था को अंगीकर करने में बेहद तेजी दिखा रहे हैं।

कभी बैकक, रोम या पेरसि जा। आठ इंच की पैट पहने ल की ओर वदिशी तो छो, उस देश का युवक भी 'दूसरी नजरों से' नहीं देखता, क्योंकि यह उसके यहां का सामान्य पहनावा है। भारत की समस्या यह है कि भारतीय महिलाओं ने अभी कोई दो दशक से (आमतौर पर) छह मीटर की सा छो है और सलवार या जींस पर आई है।

गांव का कमजूर जब शहर में आता है तो उसकी मूल्य-चेतना और समझ पुरानी होती है जिसमें उसके यह बताया गया है कि शहरों में जो महिला कम कपड़े पहनती है वे 'अच्छी' नहीं होतीं और कई बार 'उपलब्ध' होती हैं। लहाजा, जब वह अकेले में या कंत में या अपने समूह के साथ किसी महिला को कम कपड़े पहने, या सगिरेट या शराब पीते देखता है तो अपने मूल्य-बोध से आंक्ता है और जब उसे तात्कलिक ऐसा परविश नहीं मिलता जो न मूल्य-बोध के अवरोध के रूप में होता है (जैसे सीसीटीवी, अरपोर्ट के माहौल के दहशत या सक्चुरटी गार्ड) तो उसे लगता है कि वह इस महिला के साथ कुछ कर सकता है।

यही महिला अगर हवाई अड्डे से पांच सतिारा होटल के कसुप्रशक्खित ड्राइवर की गाड़ी में बैठे तो उस पर शारीरिक हमले की गुंजाइश कम हो जाती है क्योंकि वह ड्राइवर न मूल्य-बोध को समझने लगता है। पुलसि, कनून, सीसीटीवी और होटल में नौकरी छूटने का डर भी उसके अंदर होता है। लेकिन यही डर मध्यम या नमिन् वर्ग के रहियशी रूट पर चलने वाले उस ड्राइवर, कंडक्टर या खलासी के नहीं होगा जब वह पा गा कि सोलह दसिंबर की क की। ती टंड की रात में दस बजे कल क और कल की सीट के पीछे बैठ प्यार की बात या प्यार कर रहे हैं।

यही डर बीरभूम के उस युवक के भी नहीं होगा जो फेसबुक पर गलत अकउंट बना कर अपने फोटो के जगह किसी स्मार्ट युवक की तस्वीर लगा कर आया है। उन दोनों के नारी स्वतंत्रता का पश्चिमी मतलब नहीं मालूम, मात्र यह मालूम है कि ऐसे लोग 'उपलब्ध' या 'कमजोर' होते हैं और इनके साथ अपनी कम-पिपासा शांत की जा सकती है।

जब हम गाहे-बगाहे (आजकल कुछ ज्यादा ही) सुनते हैं किसी मंत्री ने कहा 'औरतें कम कपड़े पहनें' तब कौन कजबरदस्त प्रतिक्रिया 'आधुनिकता के हमियाती' बुद्धिजीवियों के द्वारा होती है। लगता है मानो भूचाल आ गया हो।

प्रश्न यह नहीं है कि कम कपड़े पहनें या ज्यादा। प्रश्न यह है कि दो अलग-अलग मूल्य-बोध के जब आप झटके से जोड़े हैं तो यह समस्या आती है। आधुनिकता या नारी स्वातंत्र्य के लार्न जार-जार आंसू बहाने वाले यह नहीं सोच पा रहे हैं कि इस तरह के स्वातंत्र्य की शर्तें हैं सख्त कानून और उन्हें अमल में लाने वाली ताकतवर संस्था, सीसीटीवी से हर क्षण और हर जगह नजर रखना, न्यायपालिका की फौरी करवाई का खौफ और महिलाओं में स्थिति के समझने के सलाहयित।

भारतीय समाज में हजारों साल में संस्था विकसित हुई थीं। परिवार, प्राथमिक संबंधों पर आधारित सामाजिक तानाबाना, विवाह के जन्म-जन्मांतर के रीति, मां-बाप का बच्चों के प्रति शर्त-शून्य अगाध ममत्व, 'सोशल पुलिसिंग' की अद्भुत व्यवस्था, ये सभी समाज में व्यक्तियों के नैतिक-चरित्रिक फसिलाव से रोकते थे। इस लहाज से भारतीय समाज तथाकथित पश्चिमी समाजों से अलग रहा है। पश्चिमी समाज 'कॉन्ट्रैक्ट' (संवदि) पर आधारित रहा है जहां न तो प्यार या ममत्व में पूर्ण समर्पण है न ही व्यक्तिगत नैतिकता के प्रति सार्थक आग्रह। भारत का समाज संबंधों पर आधारित रहा है।

किसी भी समाज में धार्मिक संस्थाओं के इस पतन के रोकने में कौन कभी भूमिका रही है। भारत में हजारों साल से ये संस्था रही हैं। पर हाल के दौर में इनकी भूमिका ही नहीं, विश्वसनीयता भी खत्म हो चुकी है। व्यक्तिगत पसंद-नापसंद वाले बाबा हैं। संस्था या मूल्य विकसित करना इन बाबाओं के हैसियत से बाहर है। पुरानी रूढ़ियां भी कल परिवार और शहरीकरण के कारण दम तोड़ चुकी हैं। जब इनमें से कौन कआध बाबा बलात्कार के मामले में सलाखों के पीछे चला जाता है या उसकी अकूत संपत्तिक खुलासा होता है तो बचा-खुचा विश्वास भी खत्म हो जाता है।

नई मूल्य-व्यवस्था तो आनी, पर क्या उसे बगैर पूरे समाज के तैयार कर लाना नई समस्या पैदा नहीं करेगा? क्या यह बेहतर नहीं होगा कि नारी स्वतंत्रता के पश्चिमी भाव से हट कर हम इस नारी स्वतंत्रता के कम कपड़े तक महदूद न करें बल्कि इसमें दुरगा की शक्ति दें ना कि नरिभया (दिल्ली बलात्कार कंड, सोलह दिसंबर, 2012) की बेचारगी? क्या यह उचित नहीं होगा कि पहले बदलते मूल्य-बोध से उस बस कंडक्टर और खलासी के भी रूबरू करा जाए और तब उसे दिल्ली में गाड़ी चलाने का लाइसेंस दें और जब तक यह प्रक्रिया, कानून, टेक्नोलॉजी का अपराध रोकने में प्रयोग पश्चिमी समाज के स्तर तक न आ जा, कम कपड़े ना पहनने की वकलत करें?

ट्विटर पेज पर फॉलो करने के लिए क्लिक करें- <https://twitter.com/Jansatta>